

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३८ अंक-१८१, वर्ष-१६, अक्टूबर-२०१२

आसो सुद १२, शुक्रवार, दि.१३-१०-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत,
वचनामृत-३१६ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - ११८

अपनी महिमा ही अपनेको तारती है। बाहरी भक्ति-महिमासे नहीं परन्तु चैतन्यकी परिणतिमें चैतन्यकी निज महिमासे तरा जाता है। चैतन्यकी महिमावंतको भगवानकी सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवानकी महिमा समझना वह निज चैतन्य-महिमाको समझनेमें निमित्त होता है।।३१६।।

भगवानआत्मा अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप (है), अंतरंग में इसकी महिमा हो तो आत्मा को तिरने का उपाय हाथ लगता है। है? 'अपनी महिमा ही...' अंतर में जो दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव आते हैं वे शुभराग हैं। इसकी महिमा आती है वह मिथ्यादृष्टि है। सूक्ष्मबात है, भाई! अपना निजस्वरूप नित्यानंदप्रभु, सहजात्मस्वरूप जो ज्ञायकभाव, इसकी महिमा आये तो सम्यक्दर्शन होता है, तब तिरने का उपाय उसके हाथ लगता है। आहा..हा..! ऐसी बात है।

'बाहरी भक्ति-महिमा से नहीं...' भगवान की भक्ति हो या प्रतिज्ञा लेने का विकल्प-राग हो, इसकी महिमा से आत्मा का धर्म नहीं होता। आहा..हा..! ऐसी बात है, प्रभु! बहुत सूक्ष्म बात है। आहा..हा..! क्यों? कि आत्मा ज्ञायकस्वभाव से भरा (पदार्थ), ऐसे दया, दान, व्रत, प्रतिज्ञा या भक्ति के विकल्प वास्तव में तो स्वयं से मुक्त-भिन्न है। समझ में आया? चैतन्य ज्ञायकमूर्ति प्रभु, शुद्ध ज्ञानघन इससे पुण्य के परिणाम जो दया, दान, व्रत आदि विकल्प हैं, वे तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न ही पड़े हैं, भिन्न ही रहे हैं। ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- भिन्न या विरुद्ध?

पूज्य गुरुदेवश्री :- भिन्न पड़े हैं, अलग ही है। अपने स्वभाव में नहीं है। आहा..हा..! ऐसी सूक्ष्म बात, भाई!

वैसे तो अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये, पंचमहाव्रत लिये, अट्टाईस मूलगुण का पालन किया,



ये सब तो राग की क्रियाएँ हैं। आहा..हा..! ऐसे राग की क्रिया की महिमा के कारण अपने सम्यग्दर्शन स्वरूप की महिमा नहीं आयी। आहा..हा..! है? **‘भक्ति-महिमा से...’** भगवान की भक्ति, तीर्थकर त्रिलोकनाथ की प्रतिमा, मूर्ति या साक्षात् भगवान, उनकी भक्ति भी राग है। आहा..हा..! इनकी **‘महिमा से नहीं...’** उनकी महिमा से अपने सम्यग्दर्शन-तिरने के उपाय की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसी बात है, प्रभु! क्या करे? जगत कहाँ का कहाँ पड़ा है और वस्तु कहाँ पर कितनी दूर रही है। आहा..हा..!

ज्ञायकस्वरूप चैतन्यदल, शुद्ध अतीन्द्रिय आनंद का कंद प्रभु! इसकी महिमा तो न आयी और ये भक्ति आदि बाहरी परमात्मा की भक्ति या व्रत, उपवास का विकल्प जो राग है, उनकी महिमा से अपनी महिमा नहीं आती। आहा..हा..! ऐसी बात है। लोगों को कठिन लगे, क्या करे? ‘मुनिव्रत धार अनन्त बैर त्रैवेयक उपजायो, पण आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।’ अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये, दिग्म्बर हुआ, हजारों रानियों का त्याग किया, द्रव्यलिंग धारण किया, अट्टाईस मूलगुण, महाव्रत आदि का पालन किया, परन्तु वह सब राग है। प्रभु! प्रभु! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! इस राग की क्रिया से ज्ञायकस्वरूप भगवान भिन्न है। एकत्व नहीं है। एकत्व मान रखा है। आहा..हा..! समझ में आया?

ज्ञायकस्वरूप भगवान प्रभु! सच्चिदानंद सहजात्मस्वरूप ध्रुव चैतन्य, इसकी महिमा, इसका बड़प्पन, ऐसे राग से भिन्न-अधिक भिन्न होकर अपनी महिमा में आता है तब सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा..! ऐसी बात है। **‘भक्ति-महिमा से नहीं...’** भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थकर की साक्षात् समवसरण में भक्ति अनन्त बार की है। समवसरण में मणिरत्न के थाल, कल्पवृक्ष के फूल, हीरे के थाल, मणिरत्न के दिये (से पूजाएँ की हैं)।

समवसरण में महाविदेहक्षेत्र में अनन्तबार जन्म धारण किया है। और वहाँ पर समवसरण में अनन्तबार गया और अनन्तबार वहाँ भगवान की भक्तिपूर्वक आरती की है। लेकिन वह तो शुभराग है। जबतक उनकी महिमा आती है तब तक मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा..! ऐसी मुश्किल बातें, भाई!

अंतर भगवान शुभराग के विकल्प के छिलकों से भगवान अंदर में भिन्न है। अरे..! कैसे मानने में आये? अंतर्मुख दृष्टि करने पर, बाह्यदृष्टि-विकल्प आदि राग की दृष्टि छोड़कर... आहा..हा..! जो उसमें है नहीं, उसकी दृष्टि व रुचि छोड़कर अंतर में ज्ञायक त्रिकाली आनंद का नाथ, प्रभु सहजात्मस्वरूप, उसमें दृष्टि लगाने से उसकी महिमा करने से सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा..! ऐसा है। जगत से बिलकुल उलटा, भाई!

‘पर चैतन्य की परिणति में चैतन्य की निज महिमा से तरा जाता है।’ आहा..हा..! भगवान चैतन्यस्वरूप, चैतन्यलोक आनंद आदि अनन्त गुणोंसे भरा हुआ प्रभु! ऐसी चैतन्य की परिणति, उसकी भक्ति आदि जो परिणति है सो तो राग की परिणति है। आहा..हा..! ऐसा कठिन कार्य है, भाई! क्योंकि बहिर्लक्षी वृत्ति है। भक्ति आदि व्रतादि-तपादि सारी बहिर्लक्षी वृत्तियाँ हैं। भले ही शुभराग हो, परन्तु वह बहिर्लक्षीवृत्ति है। आहा..हा..! उसमें चैतन्य की परिणति नहीं है। आहा..हा..!

ज्ञायक भगवान चैतन्य ज्ञानस्वरूप प्रभु! उसकी **‘चैतन्य की परिणति में चैतन्य की निज महिमा से तरा जाता है।’** आहा..हा..! भारे मुश्किल काम! व्यवहार भक्ति आदि का भाव तो राग है। वैसा तो जीव ने अनन्तबार किया है, परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। ‘आतमज्ञान बिन लेश सुख न पाया।’ महाव्रतादि लिये, प्रतिज्ञाएँ धारण की, सो तो सब राग है, दुःख है। राग

से भिन्न भगवान चैतन्यस्वरूप, इसका ज्ञान नहीं किया तो आनंद नहीं आया, दुःख हुआ। आहा..हा..! ऐसा स्वरूप है। लोगों को मुश्किल लगे, क्या करे? आहा..! मार्ग तो ऐसा है। तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव परमात्मा, उनकी दिव्यध्वनि में ये सब आया है। समझ में आया?

चैतन्य ज्ञायकस्वरूप भगवान, उसकी परिणति। परिणति नाम उसकी निर्मलदशा। भक्ति आदि, व्रत आदि का भाव तो मलिन दशा है। आहा..हा..! ऐसी मलिनदशा की अगर आत्मा को महिमा आती है तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा..! अपना चैतन्य, ऐसी भक्ति आदि, रागादि, विकल्पादि से भिन्न प्रभु अंदर में है। क्योंकि भक्ति आदि के परिणाम पुण्यतत्त्व है और भगवान आत्मा तो पुण्यतत्त्व से यह ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहा..हा..! इसका अर्थ यह हुआ कि चैतन्यलोक भगवान ऐसे राग से मुक्त ही है। क्योंकि परचीज है न। यह बात कैसे मानने में आये? आहा..हा..! यह राग का विकल्प जो है, बाह्यव्रत के, पंचमहाव्रत के प्रतिज्ञा का राग, वे सब तो विकारभाव हैं। ये सारे अपने स्वरूप से भिन्न हैं। उसकी परिणति तो मिथ्यात्व, यानी कि उससे धर्म होता है ऐसा मानना तो मिथ्यात्व की परिणति है। परिणति नाम मिथ्यात्व की दशा है। आहा..हा..!

‘चैतन्य की परिणति में...’ ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि होने पर, जो ज्ञायक की शुद्ध चैतन्यदशा की दशा, वह चैतन्य की निज महिमा से तरा जाता है। इससे तिरने का उपाय वही है। बहुत मुश्किल लगे। क्या करे? आहा..हा..! अशुभभाव भी अनन्तबार किये हैं और ऐसे व्रत, तप, भक्ति,

उपवास, छः छः महिने के उपवास, भगवान की आरती, करोड़ों के दान और करोड़ों मंदिर बनवाये हैं, ऐसा शुभभाव अनन्तबार किया है, भाई! यह कोई नई बात नहीं है। आहा..हा..! ऐसे राग की जिसे महिमा आती है, उसे निर्विकार चैतन्य भगवान की महिमा नहीं है और जिसको चैतन्य निर्विकार की महिमा है, उसे राग की महिमा नहीं आती है कि मैंने ऐसे शुभभाव किये,... ऐसे किये। ऐसी महिमा धर्मी को नहीं आती। आहा..हा..! ऐसा स्वरूप है। कठिन लगे।

‘चैतन्य की महिमावंत को भगवान की सच्ची महिमा होती है।’ जिसको भगवान ज्ञायकस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, ध्रुव उसकी जिसे महिमा है, उसे भगवान की सच्ची महिमा होती है। आहा..हा..! इसे छोड़कर बाहर में भगवान ऐसे हैं, अतिशय हैं, भगवान बोलते नहीं है, दिव्यध्वनि होती है – सो तो परवस्तु है। अंतर में भगवान ज्ञायकस्वरूप, उसकी महिमा से चैतन्यपरिणति हुई, उसको ही भगवान की यथार्थ महिमा आती है। ऐसा है भाई! है?

‘चैतन्य की महिमावंत को भगवान की सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवान की महिमा समझना वह निज चैतन्य महिमा को समझने में निमित्त होता है।’ भगवान सर्वज्ञ वीतराग अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति प्रभु। उसे समझने पर मैं ऐसा हूँ। मैं भी अतीन्द्रिय आनंदकंद प्रभु, ज्ञायकस्वरूप अखण्डानंद नाथ (हूँ)। ऐसे निमित्त को देखकर अपने स्वभाव की महिमा आती है। आहा..हा..! समझ में आया? सूक्ष्म बात है भाई! यह तो अध्यात्मतत्त्व की बात है। आहा..हा..!

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अक्टूबर-२०१२) का शुल्क श्री शांतिलाल यु. देढिया, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



**श्री परमागमसार वचनामृत-३४८ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,
प्रवचन नं.१७२ (दि.३१-९-१९८३, भावनगर)**

३४८। ६४ वाँ पन्ना।

मोक्षार्थीजीव भेदज्ञान करता है। बुद्धिपूर्वक भेदज्ञान कैसे होता है? मोक्षार्थीजीव के लिये शुरूआती भेदज्ञान की विधि यहाँ पर दिखानी है। शर्त इतनी है, कि यह भेदज्ञान करनेवाला जीव मोक्षार्थी हुआ है। मोक्षार्थी न हो और भेदज्ञान करता है या मोक्षार्थी न हो फिर भी भेदज्ञान कर सकता है सो बात असंभव है। विषय थोड़ा कठिन लगने का कारण यही है। भेदज्ञान का विषय यहाँ थोड़ा मुश्किल व कठिन लगने का कारण यही है, कि मोक्षार्थीपने में भेदज्ञान का प्रारम्भ होता है। ऐसे मोक्षार्थीपने के अभाव में सहीरूप से भेदज्ञान का प्रारम्भ कैसे हो? यह थोड़ा मुश्किल लगता है। प्रारम्भ कैसे करे? इसमें जो बाधारूप बात है वह यह है।

‘ज्ञान की दशा की दिशा स्व-ओर है।’ ऐसा कहा। ‘राग-दशा की दिशा पर-ओर है।’ स्पष्ट करने के लिये राग की दशा ली। ‘राग-दशा की दिशा पर-ओर है।’ क्योंकि राग तो पर अभिलाषरूप है। राग है सो परअभिलाषरूप होने से वह ‘राग-दशा की दिशा पर-ओर है...’ यह बात तो अच्छी तरह परिचित है। परन्तु मिथ्यात्व के जोर में ज्ञान की दशा की दिशा भी पर तरफ चल रही है ऐसा परिचय है। ज्ञान का परिचय कैसा है? कि ज्ञान की दशा, उसकी दिशा भी जो है वह पर की ओर है ऐसा परिचय है। जैसे राग प्रवर्तता है वैसे ही ज्ञान प्रवर्तता हुआ मालूम पड़ता है। यहाँ पर उसकी ना देते हैं।

मोक्षार्थीजीव अगर राग और ज्ञान को भिन्न-भिन्न देखे, भिन्न-भिन्न अवलोकन में ले तो उसे राग की दशा की दिशा पर तरफ मालूम होगी जबकि ज्ञान की दशा की दिशा को पर तरफ नहीं मालूम होगी। ऐसा ज्ञान जो है, अकेला ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान है उस शुद्ध ज्ञान

की दशा की दिशा पर तरफ नहीं है। क्योंकि ज्ञान है वह ज्ञान में ज्ञानरूप अनुभव में आता है। ज्ञान ज्ञानरूप अनुभव में आता है, तब उसकी दशा की दिशा स्वतरफ है ऐसा देखने में आता है।

वास्तवमें तो ज्ञानस्वभाव जो अंतर्मुख है, कैसा है? स्वभावज्ञान कैसा है? कि अंतर्मुख जिसका स्वभाव है। उस स्वभाव के रूप में ज्ञान को यहाँ देखने की बात है। परन्तु स्वभाव सीधा अवलोकन में न आता होने से उसे दिशा सूचन द्वारा दिखाया है। क्या कहते हैं यहाँ पर? कि देख, भाई! यह राग की दिशा जो पर की ओर है सो तो विभाव है। इतनी ही नहीं ज्ञान की दशा की दिशा भी अगर पर की ओर रही तो वह भी विभाव है, वह भी स्वभाव नहीं। स्वभाव जो अंतर्मुख है, ऐसा ज्ञान का स्वरूप है।

विशेषज्ञान जो परसन्मुख ज्ञान का अंश है, उतना ही मैं हूँ ऐसा मिथ्यात्व के जोर में तू अनुभव करता है। जबकि ज्ञान इतना ही सिमित नहीं है। ज्ञान में जो ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञपना जो कि ज्ञानसामान्य है, जो स्वभावरूप है अथवा ज्ञान में जो स्वभाव व्यक्त है ज्ञान की दशा में जो प्रगट व्यक्त स्वभाव है, उसे यदि दिशा से तू देखेगा तो उसकी दिशा पर की ओर नहीं परन्तु स्व की ओर है। परन्तु ऐसा कब मालूम होगा? कि तू मोक्षार्थी होगा जब। मति सुलटी होगी तब मालूम होगा। मति इतनी हद तक सुलटी होनी चाहिये।

आचार्य महाराज ने मोक्षार्थी की बात इसीलिये यहाँ पर ली है, क्योंकि भूमिका के योग्य निर्मलता नहीं होगी तो बुद्धि से इस विषय को हस्तगत नहीं किया जा सकता। बुद्धि चाहे कितनी भी हो। विशाल बुद्धि हो तीक्ष्ण हो, सूक्ष्म भी हो तो भी भूमिका के योग्य निर्मलता यानी कि मोक्षार्थीपना होना यह भेदज्ञान

के प्रारम्भ हेतु अनिवार्य है। यँ ही भेदज्ञान होने नहीं लगता। ऐसी बात है। और मोक्षार्थी होने के लिये जो शर्त रखी है वह यही कि मुझे कुछ नहीं चाहिये।

परिपूर्ण शुद्धता ही चाहिये, पूर्ण शुद्धि चाहिये और तनिक भी अशुद्धि या मलिनता, कषाय का एक कण भी नहीं चाहिये, ऐसा ध्येय बना लेता है जिसके साथ में पूर्णानन्द की प्राप्ति की भावना और ध्येय दोनों साथ-साथ होते हैं। ऐसे जीव को कहते हैं कि देख तो सही अंतरमें। राग की दिशा पर तरफ है जबकि ज्ञान की दिशा स्व तरफ है। उसे अच्छीतरह ऐसा मालूम हो जाता है कि बात तो जैसी कहते हैं वैसी ही है। वस्तुस्थिति तो वैसी ही है।

ज्ञान जो है उसमें दूसरे का प्रवेश जैसे अशक्य है वैसे ज्ञानका पर में प्रवेश होना, पर का स्पर्श होना भी अशक्य है। अब तो जो अकेला ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान है, 'मात्रज्ञान' जिसे कहते हैं, 'समयसारजी' में ज्ञानमात्र-ज्ञानमात्र-ज्ञानमात्र-ऐसा जो कहा, उसकी तो दशा की दिशा भी स्व तरफ है। उसकी दशा की दिशा पर की ओर मालूम नहीं होती।

अतः ज्ञान और राग की जो दो अवस्था धारावाहीरूप से चलती हैं उस बीच भिन्नता करने के लिये प्रज्ञाछैनी का पटकना, ऐसा कहते हैं। अनुभव करने के लिये 'दो दशाओं के मध्य प्रज्ञाछैनी लगाने से-' यानी कि दो के बीच भिन्नता है ऐसा ज्ञान प्रगट करना।

मुमुक्षु :- अज्ञानदशा में ज्ञान की दिशा पर तरफ है यह भ्रमणा है ?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान की दिशा पर की ओर है उसमें वह ज्ञान को स्वभाव के रूप में नहीं देखता। उसका जो मिथ्यात्व के जोर सहित का पर प्रत्ययी झुकावयुक्त ज्ञान जो है, जो ज्ञान पर की ओर तेजी से जाता है। इतना ही मेरा स्वरूप है, ऐसा पकड़कर बैठा है। तो कहते हैं कि, ऐसा ज्ञान का स्वभाव तो नहीं है। रोग होता है मतलब वह कोई शरीर का स्वभावभूत लक्षण नहीं है, स्वरूप नहीं है, स्वभावभूत अवस्था नहीं है। रोग होता है वह स्वभावभूत अवस्था नहीं है। इसतरह विभावज्ञान है वह स्वभावज्ञान नहीं

है। जिस ज्ञान को दिखाना चाहते हैं सो तो स्वभावज्ञान को दिखाना है। स्वभाव सीधा पकड़ में नहीं आता है इसलिये दिशा से पकड़ाना चाहते हैं।

यह तो ऐसा पृथक्करण है कि स्थूल पर से सूक्ष्म... इससे भी सूक्ष्म... इससे भी और सूक्ष्म फिर और इससे सूक्ष्म इसतरह अंतर में ले जाते हैं। ज्ञान में भी ज्ञान की दशा की दिशा स्व की ओर है वह पकड़ में आये इसलिये यह बात कही। बात तो स्वभाव की करनी है कि ज्ञान का जो स्वभाव है वह तो अंतर्मुख है। ज्ञान का जो अंतर्मुख स्वभाव है उसकी अंतर्मुखता बहिर्मुखता के परिचय में पकड़ में नहीं आती। तो अब कहते हैं कि ज्ञान ज्ञान का वेदन करे वह ज्ञान ही स्वसन्मुखता है। अथवा जो ज्ञान स्वपने वेदन में आता है वह आत्मा है। लिजिये ठीक ! यह तो 'गुरुदेवश्री'का वचन है। इसमें ही है।

स्वपने वेदन में आ रहा ज्ञान वह आत्मा है। बोल- ७३३। है ७३३ ? 'परद्रव्य-ओर की वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ- पर वह आत्मा नहीं है।' शुभाशुभ परद्रव्य ओर की वृत्ति तो आत्मा नहीं है, परन्तु ज्ञान की पर की ओर की वृत्ति वह भी आत्मा नहीं है। ठीक। वह उसमें आ जाता है। 'परद्रव्य-ओर की वृत्ति...' चारित्रगुण की शुभाशुभरूप हो चाहे ज्ञान की हो, पर तरफ का झुकाव है वह आत्मा नहीं है।

'स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' उसके अंदर मर्म है। 'स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' क्या कहते हैं ? ज्ञान में ज्ञानवेदन है। ज्ञान में ज्ञानानुभव है कि और कुछ है ? क्योंकि, दूसरे किसीको तो अंदर में आने का अवकाश नहीं है, गुंजाईश नहीं है कि ज्ञान में दूसरा कुछ प्रवेश कर सके। यह ज्ञान में जो ज्ञानवेदन वह अगर स्वपने वेदन में आये तो वही आत्मा है, वही स्वसंवेदन है, वही स्वानुभूति है, वही अंतर्मुखता है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही स्वसन्मुख ज्ञान है। परन्तु यह विषय अनुभव की कला का है। ज्ञान का अनुभव तो है परन्तु ज्ञान का विपरीत अनुभव है। ज्ञान में ज्ञान के अनुभव की जो कला वह आत्मा के अनुभव की कला है। इसीलिये तो कहा कि, 'ऐसे ज्ञान के स्वसंवेदन

की कला...’ इसप्रकार से ज्ञान के स्वसंवेदन की कला ‘...ही मोक्ष की कला है।’ आत्मानुभव की कला ही सच्ची कला है, ‘उसका बारम्बार अभ्यास करना योग्य है। दुःख से छूटना हो व सुखी होना हो तो परभावों से भिन्न आत्मा को जानकर...’ शुभाशुभरूप ‘परभावों से भिन्न आत्मा को जानकर, उसीका...’ यानी कि भिन्नता का ही ‘अभ्यास करना योग्य है।’ है कि नहीं? ‘स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।’ इतना सा टुकड़ा है। सूत्र जैसा टुकड़ा है। ७३३ है न? ‘अनुभवप्रकाश’ के प्रवचन से होगा। ‘प्रवचनसागर के मोती’ में से है। ‘प्रवचनसागर के मोती’ नामक ग्रंथ अपने यहाँ प्रकाशित हो चुका है, जिसमें गुरुदेव के वचन हैं। उन वचनों में से चुना हुआ है यह। उसमें यह बहुत सुंदर पसंदगी की है।

मुमुक्षु :- स्व की ओर की ही दिशा हो तो सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् परप्रकाशकपना कैसे नहीं प्रतिभासित होता है? परप्रकाश का प्रतिभास तो होता है कि नहीं?

पूज्य भाईश्री :- ऐसा है कि ज्ञान का स्वरूप स्वपरप्रकाशक है। व्यवहार से व निश्चय से ‘नियमसार’ की १७९वीं गाथा का यह विषय है, कि ज्ञान व्यवहार से भी स्वपरप्रकाशक है, ज्ञान निश्चय से भी स्वपरप्रकाशक है। वहाँ निश्चय का अर्थ ऐसा किया है कि ज्ञान ज्ञान का भी वेदन करता है और ज्ञान निश्चय परिणमन के काल में, शुद्ध परिणमन के काल में आनंद का भी वेदन करता है। ऐसा अर्थघटन ‘नियमसार’ शास्त्र में किया है।

मुमुक्षु :- ज्ञान को भी वेदता है?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान ज्ञान को भी वेदता है और ज्ञान आनंद को भी वेदता है। ज्ञान है सो स्व है और आनंद है सो पर है। ‘नियमसार’ में यह विषय लिया है।

मुमुक्षु :- ‘समाधितंत्र’ में आया है।

पूज्य भाईश्री :- ‘नियमसार’ में स्पष्ट गाथा है, ‘समाधितंत्र’ में कहाँ है यह मालूम नहीं है, याद नहीं है कुछ। यहाँ तो यह विषय Agenda पर है। शुद्धोपयोग अधिकार है, शुद्ध उपयोग अधिकार है। १५९ गाथा

है। प्रथम गाथा है।

मुमुक्षु :- ज्ञान भोक्ता के रूप में नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान अपेक्षा से कर्ता-भोक्ता है, अपेक्षा से कर्ता-भोक्ता नहीं है। दोनों अपेक्षा भिन्न-भिन्न है। यहाँ इतना ही प्रश्न है। ३२०वाँ पन्ना है। अब ‘स्वाश्रितो निश्चयः ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत निरूपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण...’ क्या कहते हैं? ज्ञान को निरूपराग नाम निर्विकार, रागरहित ‘निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण...’ यानी रागरहित ज्ञान ज्ञान में लीन है तब ‘निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही।’ इसका संस्कृत इसप्रकार है। ‘अथ निश्चयपक्षेऽपि से भी...’ ‘निश्चयपक्ष से भी...’ ‘भी’ शब्द का प्रयोग है। इतना जोर क्यों देते हैं? मूल में भी ऐसा शब्द है। ‘अथ निश्चय पक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वसत्येवेति...’ एव माने ही। ‘सत्येवेति सततनिरूपरागनिरंजन-स्वभावनिरत्वात्, स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात्।’ स्वआश्रय से निश्चय ऐसा सूत्र वचन होने से, सूत्र का ऐसा वचन होने से ज्ञान को ‘निरूपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्षसे भी स्वपरप्रकाशकपना है ही।’ ऐसा लिया है। (वह इस प्रकारः) किसतरह?

‘सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम से तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है तथापि...’ सहजज्ञान है वह आत्मा की संज्ञा यानी नाम द्वारा, लक्षण यानी लक्ष-लक्षण के भेद द्वारा व प्रयोजन की अपेक्षा गुण को बताना और गुणी को बताना ऐसे प्रयोजन की अपेक्षा से ‘भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है तथापि वस्तुवृत्तिसे (अखण्ड वस्तुकी अपेक्षा से) पूरे पदार्थ की अपेक्षा ‘भिन्न नहीं है, इस कारण से यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित)..’ ज्ञान आत्मा से भिन्न न होने से। भले ही भिन्न कहलाता हो परन्तु भिन्न न होने से ‘(आत्मा में स्थित दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है।’ वे सब पर हैं, ऐसा कहते हैं। उन्हें भी जानते हैं। ‘और स्वात्माको-

कारणपरमात्मा के स्वरूप को-भी जानता है।' इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है। इसप्रकार स्व-पर प्रकाशक के विषय में लिया है। यह निर्विकल्पता के काल में लिया है।

जब निर्विकल्प ज्ञान है तब भी इस अपेक्षा स्वपरप्रकाशक है। और सविकल्प सम्यक्ज्ञान है तब वह स्व को जानते हुए पर को जान लेता है। क्यों स्व को जानता हुआ पर को जान लेता है? कि अनुभव में जितना स्व है, इसमें केवल स्व है और पर कोई नहीं है। जैसे यह मेरा घर है कहते ही गाँव के अन्य पाँच हजार घर हो तो वे मेरे नहीं हैं। इतना ही मेरा घर है। ऐसा जानने में आ गया। इसप्रकार अपने एकाकार स्वरूप में, भिन्न स्वरूप में इतना ही स्व है ऐसा जानते ही जगत के सारे अन्य द्रव्य इसमें नहीं हैं ऐसा पर विषयक ज्ञान इसमें समाहित है। स्व में पर का ज्ञान समाहित है। इसलिये पर का जानना इसप्रकार वहाँ कहा गया है। भले ही पर पर उपयोग नहीं है तो भी। निर्विकल्प और सविकल्प सर्व अवस्था में स्वपरप्रकाशकपना है।

मुमुक्षु :- एक गाथा आगे ज्ञान स्व-परप्रकाशक इतनी दृष्टि है - इसका अर्थ क्या?

पूज्य भाईश्री :- वह फिर आगे की बात है। उसमें ऐसा एक विषय चला है वहाँ पर, कि कोई ऐसा कहे कि दर्शन स्व का प्रकाशक है, ज्ञान पर का प्रकाशक है। कहते हैं कि ऐसे भी नहीं है। ऐसा कहना है वहाँ पर। दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है। दर्शन दर्शन की रीत से देखता है। ज्ञान ज्ञान के गुण से जानता है, दर्शन दर्शन के गुण से देखता है। बस, वहाँ इतना विषय है। क्योंकि 'धवल' में यह विषय चला है।

वेदांतदर्शन जो है वह दर्शनगुण का स्वीकार नहीं करता। चैतन्य का स्वीकार करता है। वेदांतदर्शन चैतन्य को स्वीकार करता है परन्तु दर्शन को स्वीकार नहीं करता। 'धवल' में यह एक जबरदस्त विषय चला है। ये दर्शन और ज्ञान को भिन्न समझने के लिये 'वीरसेनस्वामी'ने यह बात उठायी है कि दर्शन स्व का

प्रकाशक है और ज्ञान पर का प्रकाशक है। वह पूरी अन्यमत के निराकरण हेतु बहुत गहन चर्चा उन्होंने की है। और अनेकों जगह उस बात को दर्शन स्वप्रकाशक और ज्ञान को परप्रकाशकरूप लिया है।

इस परसे तो (अपने एक मुमुक्षु) धारणा में भूल खा गये थे, कि ज्ञान स्व को नहीं जानता। ज्ञान स्व को नहीं जानता। देखो! 'वीरसेनस्वामी' स्पष्ट कहते हैं। फिर उन्हें ये 'नियमसार' की गाथाएँ दिखायी। कि दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है, ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है। तो कहा नहीं। 'धवल' का विषय सूक्ष्म है। यह विषय स्थूल है क्योंकि वहाँ करणानुयोग का विषय है। करणानुयोग का विषय केवलज्ञान अनुसार चलता है, (मैंने कहा) ऐसा नहीं है। 'धवल'का विषय अन्यमत के निराकरण हेतु चला है, क्या कहा? 'धवल' का विषय अन्यमत के सामने है जबकि 'नियमसार' का विषय अध्यात्म के आत्महित करने की अपेक्षा से चला है। उसमें अध्यात्मप्रधानता रही होने से वह आत्महित की प्रधानता से चला है। वहाँ अन्यमत दर्शनगुण का स्वीकार नहीं करता है; हालाँकि दर्शनगुण का जो परिणामन है वह इतना सूक्ष्म है कि छद्मस्थ को वह साकाररूप से अनुभवगोचर नहीं होता है, इसलिये वे लोग स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मतमें उस विषय का अभाव रहने का कारण यही है। वे लोग स्वीकार करेंगे कहाँ से?

यहाँ तो छद्मस्थ को दर्शन उपयोग के बाद में ज्ञानोपयोग उसमें मतिज्ञान का प्रथम शुरु होता है, उसमें अवग्रह, इहा और अवाय उपर आये तब जीव को पता चलता है, ख्याल जाता है कि अब मुझे कुछ इस विषय में जानकारी है। वहाँ तक तो उसे क्या मालूम हो रहा है वह मतिज्ञान में भी अवग्रह और इहा तक तो पता ही नहीं चलता। ख्याल ही नहीं जाता। इतने सूक्ष्म भेदयुक्त केवलज्ञान अनुसारीणी वाणी होने से इसमें आया है। ज्ञान का भी इतना, मतिज्ञान का इतना सूक्ष्म भेद है। दर्शन तो पकड़ में आये ही कहाँ से?

इसलिये वे लोग ने दर्शन को ठुकराया है, कि जैनियों का जो ऐसा कहना है कि आत्मा में चैतन्य यानी कि दर्शन और ज्ञान दो। तो कहते हैं, ऐसा नहीं

है। चैतन्य नाम ज्ञान और ज्ञान यानी चैतन्य। वे लोग ब्रह्म को सच्चिदानंदस्वरूप कहते हैं। ब्रह्म को सच्चिदानंद स्वरूप कहते हैं। प्रज्ञानब्रह्म। चार वेद हैं उसमें एक वेद का सूत्र ही है कि ब्रह्म यानि ज्ञानस्वरूप। 'प्रज्ञानं ब्रह्मः' ऐसा उनका सूत्र है। पूरे वेद का एक सूत्र क्या है? कि 'प्रज्ञानं ब्रह्मः' तत्त्वमसि दूसरे सूत्र का। दूसरे वेद का सूत्र है कि तत्त्वमसि। वह तू है। एक वेद का सूत्र 'अहं ब्रह्मास्मि'। मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। ऐसे चार वेद के ऐसे सूत्र हैं। लगे ऐसा कि ये लोग बुद्धि से भी कहाँ तक पहुँचे हैं? 'अहं ब्रह्मास्मि' तक पहुँचे हैं। प्रज्ञानं ब्रह्म तक पहुँचे हैं। फिर भी जहाँ यथार्थरूप से सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपं मोक्षमार्ग में आरूढ़ नहीं होते और आत्मा के विषय में क्षयोपशमरूप बुद्धि लगाकर यदवा-तदवा जहाँ तक बुद्धि पहुँची वहाँ तक निरूपण लिया हो तो उसमें गड़बड़ी हुए बिना रहती नहीं। लगे ऐसा कि इतना तो सही कहते हैं न! कि पागल आदमी थोड़ी सी बहेकी हुई बात करता है उस पर से उसकी मानसिक स्थिति ठीक तो नहीं है, कितना पागल है उसका Meter तो बाद में लगायेंगे परन्तु मानसिक स्थिति ठीक नहीं है यह बात तो स्पष्ट होती ही है।

ठीक वैसे सम्यग्ज्ञान की बहुत-सी बातें आती हो तो भी एक बात भी यदि मिथ्याज्ञान की आ जाये; हजारों बातोंमें से हैं! तब ऐसा निश्चित हो जाता है कि वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, है तो मिथ्यादृष्टि। धारणा से तो संभवित है। शास्त्राभ्यास करे, विचारशक्ति हो, चिंतनशक्ति हो, सम्यग्ज्ञानी के शास्त्रों का अवगाहन हो, धारणा हो, हजारों बोल सम्यग्ज्ञानी की तरह कह सके तो भी एक जगह गड़बड़ी होते ही समझ लेना चाहिये कि सब में गड़बड़ी है। एक बात भी उसकी सही नहीं है।

मुमुक्षु :- इसमें एक बोल ऐसा स्व-प्रकाशक का आगे की गाथा में इसमें क्या हेतु है?

पूज्य भाईश्री :- 'पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग भिन्न रे। परद्रव्यगत नहीं दर्श!' वर्णित पूर्व तब मंतव्य रे। १९६८।। यदि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है, ऐसी अगर तेरी मान्यता होगी तो दर्शन और ज्ञान सर्वथा भिन्न सिद्ध हो जायेंगे। जब कि ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु :- है तो ज्ञान स्वप्रकाशक, इसलिये दृष्टि है...

पूज्य भाईश्री :- वह पीछे होगा।

'है ज्ञान निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है। है जीव निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है। १९६५।।'

'नियमसार' की १६५ वीं गाथा है कि 'यह निश्चयनय से स्वरूप का कथन है। यहाँ निश्चयनय से...' ज्ञान स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है। निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है। ज्ञान स्वप्रकाशक होता है, जीव स्वप्रकाशक होता है तो दर्शन भी स्वप्रकाशक होता है। ऐसे दर्शन को यहाँपर सिद्ध करता है। दर्शन उपयोग को हँ!

मुमुक्षु :- ज्ञान स्वप्रकाशक ही लिया है वहाँ।

पूज्य भाईश्री :- कहने का हेतु ऐसा है कि, दर्शन का स्वप्रकाशकपना यहाँ पर सिद्ध करना है। ज्ञान द्वारा और जीव द्वारा। ज्ञान के स्वप्रकाशक द्वारा और जीव के स्वप्रकाशक द्वारा।

'यहाँ निश्चयनय से शुद्ध ज्ञानका लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है; उसीप्रकार सर्व आवरण से मुक्त शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है।' दर्शन भी स्वप्रकाशक है। क्योंकि ज्ञान भी स्वप्रकाशक है। उसके कारण में ज्ञान को ले लिया है। 'आत्मा वास्तव में, उसने सर्व इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से...' क्योंकि इन्द्रिय व्यापाररूप जो परप्रकाशकपना है वह स्वभाव में नहीं है। 'स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षण से लक्षित है;...' स्व को ही वेदता है, स्व का ही अनुभव करता है ऐसा जो स्वप्रकाशकपना उससे इसका स्वरूप जानने में आता है।

'दर्शन भी, उसने बहिर्विषयपना छोड़ा होने से,...' उसपर से यह बात सिद्ध करनी है कि, 'दर्शन भी उसने बहिर्विषयपना छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है। मुख्यरूप से वह स्व को प्रकाशित करता है। स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है। इसप्रकार स्वरूपप्रत्यक्ष-लक्षण से लक्षित अखण्ड-सहज-शुद्धज्ञानदर्शनमय होने के कारण, निश्चय से, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती स्थावर जंगमस्वरूप समस्त

द्रव्यगुणपर्यायरूप विषयों सम्बन्धी प्रकाश-प्रकाशकादि विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूप संचेतन जिसका लक्षण है ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अंतर्मुख होने के कारण, आत्मा निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है।'

निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है। जिसने बाह्य अवलंबन नष्ट किया है। यहाँ निषेध किसका है? कि जो बहिर्मुख झुकाव है, ज्ञान की दशा की दिशा जो पर तरफ है उसका निषेध है। इतना ही नहीं जो ज्ञान परसत्ता को अवलंबता है उसका निषेध है। निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशकज्ञान है। जिसने बाह्य अवलंबन नष्ट किया है ऐसा स्वप्रकाशक जो साक्षात् दर्शन उस रूप भी आत्मा है। एकाकार निजरस के फैलाव से पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है और जो पुराण नाम सनातन है ऐसा यह आत्मा सदा अपने निर्विकल्प महिमा में निश्चितरूप से बसता है। अब, यह जो स्वप्रकाशकपने का विषय है इसका थोड़ा सारांश समझने जैसा है। थोड़ा विषयांतर तो होगा चलते विषय से।

मुमुक्षु :- ज्ञान भी स्वप्रकाशक, दर्शन भी स्वप्रकाशक। दर्शन वेदकतास्वरूप और ज्ञान प्रकाशकता स्वरूप है तो वह कैसे?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान में भी वेदकता तो है। ज्ञान में, दर्शन में वेदकता है, ज्ञान में भी वेदकता है, सुख में भी वेदकता है।

मुमुक्षु :- ज्ञान व दर्शन दोनों को अभेद समझे तो ?

पूज्य भाईश्री :- गुणभेद की अपेक्षा भेद है। दर्शन, ज्ञान में वस्तु भेद से भेद नहीं है।

मुमुक्षु :- गुणभेद से भेद है ?

पूज्य भाईश्री :- भेद मर्यादित है। गुणभेद से भेद है, वस्तुभेद से भेद नहीं है। ऐसा है। अब यहाँ तो हमारे स्वपरप्रकाशक का विषय चर्चास्पद हुआ है इसलिये भाई ने इस बारे में प्रश्न उठाया है। ज्ञान को स्व-पर प्रकाशकपना है या नहीं? है। अब कोई-कोई जगह ऐसा कहा है कि ज्ञान केवल स्वप्रकाशक ही है। जबकि यहाँ तो कहने का हेतु दर्शन का स्वप्रकाशकपना लेना है इसलिये यहाँ तो इतना मर्यादित

विषय है। परन्तु इसके अलावा भी एक विषय आता है ज्ञान के स्वप्रकाशकपने के विषय में, कि ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव के कारण परपदार्थ के साथ ज्ञान का संपर्क होता है। यानी कि परपदार्थ ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है। अतः परपदार्थ का अस्तित्व और परपदार्थ कैसा है और कैसा नहीं है, वह ज्ञान जानता है, कि यह परपदार्थ जीवंत है, जीव है और यह दूसरा परपदार्थ अजीव है। पर पदार्थ का सजीवपना-अजीवपना आदि प्रकार से लेकर इसका अस्तित्व-हयाती वह तो यदि ज्ञान का परप्रकाशकपना हो तो ही प्रसिद्ध हो सकता है वरना इसकी प्रसिद्धि ही नहीं हो सकती। यदि ज्ञान का परप्रकाशकपना नहीं होता तो छः द्रव्य की प्रसिद्धि ही नहीं हो सकती क्योंकि पाँच द्रव्य तो अजीव हैं। जब पाँच द्रव्य अजीव हैं, यह प्रकाशित हुआ कि साथ ही अनिवार्यरूपसे ज्ञान के परप्रकाशकपने की इसमें प्रसिद्धि हो गई कि जिसका निवारण संभव नहीं है। परन्तु तेरी प्रयोजन सिद्धि हेतु तुझे उस परप्रकाशत्व की मुख्यता करने जैसी नहीं है।

जहाँ मुख्यता-गौणता का सवाल है वहाँ ज्ञान की जो अंतर्मुखता है, अंतर्वेदनपना है उसे मुख्य करने जैसा है। उस अंतर्मुखता में ज्ञान की बहिर्मुखता का निषेध है और ज्ञान की परसत्ता का अवलंबन लेने का निषेध है। अब ज्ञान को समझने में बहुत फर्क पड़ता है। और अपूर्ण समझ से प्रायः अनेकों प्रकार के विकल्प के चक्कर उत्पन्न हो जाते हैं।

अब ज्ञान जो पर को जानता है उसमें पर के अवलंबन बिना भी जान ले ऐसा भी ज्ञान का सामर्थ्य है। और पर के सन्मुख हुए बिना भी जान ले ऐसा सामर्थ्य भी ज्ञान में है। समान्यतया संसारी जीव को, संसारी जीव परसन्मुख होकर परसत्ता का अवलंबन लेकर पर को जानता है। और ऐसे जानने के काल में उसका स्वप्रकाशत्व लुप्त प्रायः हो जाता है, नहीं के बराबर हो जाता है। उसवक्त मैं स्वप्रकाशक हूँ ऐसा न तो अनुभव में, वेदन में रहता है नाहीं ख्याल या स्मृति में रहता है। वह तो उसका एकांत परप्रकाशकपना है ऐसा अपेक्षा से कहा जाता है। वह भी मर्यादित बात है। क्योंकि उसवक्त भी जीव का

(वेदन) तिरोभूतरूप से है, ज्ञानसामान्य का वेदन तिरोभूतपने तब भी जीव को है। नहीं हैं सो बात नहीं। फिर भी ऐसा कहा जाता है। अब यह तो हुई मिथ्यादृष्टि की बात।

ज्ञान की प्रवृत्ति करनेवाले जीवों को तीन भेद में विचार करे तो एक मिथ्यादृष्टि बाधक जीवों का समूह, एक सम्यक्दृष्टि साधकजीवों का समूह और एक केवली आदि सिद्ध जीवों का समूह। तीन भेद कर ले। तो जो साधकजीव हैं सो तो स्वप्रकाशपने को चुककर एकांत परप्रकाशन में तन्मय होने से परसन्मुख होकर पर से तन्मय होकर, पर में लीन होकर, पर के अवलंबनपूर्वक पर को जानते हैं। ऐसा एक जानने का कार्य ज्ञान में होता है।

सम्यक्दृष्टि का ज्ञान दो भेद से प्रवर्तता है। एक सविकल्प उपयोगरूप और दूसरा निर्विकल्प उपयोगरूप। है? दो प्रकार हैं। जब उनका उपयोग निर्विकल्प है तब उनका परसन्मुखपना भी नहीं है और पर का अवलंबन भी नहीं है। परावलंबनपना भी नहीं है। परसत्ता का अवलंबन भी नहीं है। उनका उपयोग स्वसन्मुख हुआ है। और जिसमें स्वसत्ता का अवलंबन है। तब वह ज्ञान स्वप्रकाशक है ऐसा स्व की मुख्यता से कहा जाता है। फिर भी वह ज्ञान उसवक्त भी स्वपर प्रकाशक है। क्योंकि स्व में पर का अभाव है ऐसा ज्ञान उसवक्त उसे हो गया। इतना स्व है और उसमें समस्त पर का अभाव है-ऐसा ज्ञान हो गया। बिना विचारे - निर्विकल्परूप से, बिना विकल्प।

वही सम्यक्दृष्टि का सविकल्प उपयोग है तब भी उनका ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। स्वप्रकाशक भी है और परप्रकाशक भी है। स्वप्रकाशक क्यों है? कि उसवक्त भी उनकी परिणति, ज्ञान की परिणति आत्मा के साथ अभेदरूप से तन्मय होकर परिणमन कर रही है। जैसे आत्मा का प्रकाशित होना है वैसा आंशिक स्वसत्ता का अवलंबन है। और सविकल्प दशा में जो उपयोग शुभाशुभ विषय में बाहर गया, वहाँ परसन्मुखता हुई, परसत्ता का अवलंबन हुआ और पर का जानना जो हुआ वह परप्रकाशकपना है। स्वपरप्रकाशक एक ही समय की पर्याय है वहाँ। परन्तु वहाँ परसन्मुख व

परसत्तावलंबी होने पर भी मिथ्यादृष्टि की माफिक तन्मय नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जैसे पर को अवलंबता है और पर को जानता है वैसे वह तन्मय नहीं होता। मर्यादितरूप से तन्मयता होती है। अवलंबन भी मर्यादित आता है। यानी कि स्वसत्ता का अवलंबन छोड़े बिना आंशिकरूप से परसत्ता का अवलंबन है। परन्तु तन्मयता नहीं है, लीनता नहीं होती। परसत्ता का भिन्नत्व वहाँ उन्हें मालूम पड़ता है। और परसन्मुख होकर, पर के अवलंबन सहित सविकल्प में जानते हैं, फिर भी लीनता या तन्मयता उन्हें नहीं होती।

जैसे नौकर सेठ की Favour में दूसरे के साथ मानो सेठ बनकर बात करता है। बिलकुल मुझे इस भाव में व्यापार करना ही नहीं है ऐसा कहेगा। उसीवक्त सेठ अगर थोड़ी नरमी दिखाये तो कभी उनके सामने भी गुस्सा करेगा, आप बैठिये चुपचाप, आपको पता नहीं है, यह आपका काम नहीं है, अभी इसके साथ बात करना मेरा काम है - यहाँ तक कह देगा। क्या कहेगा? सेठ तो समझते हैं कि ये मेरे हित की बात करता है। मुझे वास्तव में डाँट नहीं रहा है मेरे हित की बात कर रहा है। इसके बावजूद भी (नोकर) को पूरा पता है कि इसमें मेरा कुछ नहीं है।

इसीतरह साधकदशा में ज्ञान की प्रवृत्ति है। और जब केवली होते हैं तब निरवशेष अंतर्मुख हैं। अरिहंत व सिद्ध निरवशेष अंतर्मुख होते हैं। उसवक्त भी उनका ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। अपने स्वरूप को परिपूर्णरूप से अवलंबनपूर्वक जानते हैं। आंशिकरूप से भी परसन्मुख नहीं होते और परसत्ता का अवलंबन नहीं लेते, फिर भी लोकालोक को जानते हैं। क्योंकि उनके ज्ञान में लोकालोक प्रतिबिंबित होते हैं, झलकते हैं। अनादिअनन्त लोकालोक को जानते हैं (इतना ही) नहीं अनादिअनन्त पर्यायों सहित लोकालोक को जानते हैं ऐसा उनका स्व-परप्रकाशकत्व है वहाँ पर ऐसे लेना।

इसप्रकार से ज्ञान का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणमन करने का स्वरूप है। उसे जैसे है वैसे न जाने और अपूर्णरूप से जानकर फिर वादविवाद में पड़ जाये तो उसमें से नई विपरीतताएँ उत्पन्न होगी। प्रथम तो जब कोई स्वपर प्रकाशक की

चर्चा छेड़े तब उसे पूछना पड़े कि इन तीन भेदमें से आपको किस भेद से शुरूआत करनी है यह पहले बताइये। अगर आप स्वपरप्रकाशक का विषय छेड़ते ही हो तो पहले इन तीनमें से किस भेद से हमें ज्ञान का विचार करना है? आप मिथ्यादृष्टि का ज्ञान लेना चाहते हो? आप सम्यक्दृष्टि का ज्ञान लेना चाहते हो? सम्यक्दृष्टि के भी सविकल्पज्ञान का विचार करना चाहते हो? या निर्विकल्प उपयोग पर विचार करना चाहते हो? या केवली के ज्ञान की बात लेनी है? क्या है? फिर हम आगे बढ़ें। वरना प्रश्नकार की कल्पना में बात कुछ और होगी और उत्तर देनेवाले की कल्पना में बात कुछ और होगी। फिर मेल खायेगा नहीं, फिर मतभेद जैसी स्थिति हो जाती है। पहले तो इसकी स्पष्टता होनी चाहिये कि हमलोग किस स्थिति की, ज्ञान की किस स्थिति की बात करने जा रहे हैं? बाद में इसका स्पष्टीकरण स्पष्टरूप से हो सके। अब कहीये, ये तीनमें से आपका प्रश्न निकालीये। जहाँ प्रश्न हो वहाँ से। यह स्व-पर प्रकाशक की भूमिका है। सांगोपांग विषय को समझे बिना गड़बड़ी करने का कोई अर्थ नहीं है।

मुमुक्षु :- प्रश्न तो ऐसा है साहब कि, मिथ्यादृष्टि सम्यक् सन्मुख होवे तब उसे स्वपरप्रकाशत्व दोनों को अवधारे तो उसे बल नहीं आता इसलिये स्वप्रकाशक कहा जैसे विधान ले तो क्या?

पूज्य भाईश्री :- इसमें ऐसा है कि, पर के साथ संबंध तोड़ना है, पर से भिन्न होना है, उसे परका प्रकाशयुक्त ज्ञान का जो प्रकार है कि जो पर के साथ संपर्क में है उसकी पकड़ करना, उस पर जोर देना जीव के लिये हितावह नहीं है। इतनी बात जरूर है। वह जीव के लिये हितावह नहीं है। सो तो ठीक है, न्यायसंगत बात है।

मुमुक्षु :- बात इतनी स्पष्ट न हो और ज्ञान परप्रकाशक नहीं है...

पूज्य भाईश्री :- नहीं। इस विषय में तो जबतक चारों पहलुओं से विचार नहीं चले तबतक कोई न कोई गड़बड़ी हुए बिना रहेगी नहीं और रहेगी ही नहीं। होगी ही क्योंकि यह विषय विस्तारयुक्त है। यह तो ऊपर-ऊपरसे स्थूलरूप से लिया अभी उसकी सूक्ष्मता

में जाये तो अभी तो बहुत सूक्ष्मता है। इसकी सूक्ष्मता सहित विषय का पूरा तलस्पर्शी विचार कर लेना चाहिये। फिर कहीं इस विषयक विधान में, विचार में, इसके विकल्प में दूसरा विपर्यास खड़ा नहीं होगा, वरना विपर्यास हुए बिना रहेगा नहीं। यह सीधी बात है।

मुमुक्षु :- यह सब विपर्यास मोक्षार्थीपने के अभाव में उत्पन्न होता है क्या?

पूज्य भाईश्री :- सो तो है ही। प्रथम नीव डाली है। १७-१८ गाथा में नींव यह डाली है। भेदज्ञान जो है वह मोक्षार्थीपने के बिना नहीं होगा। और मोक्षार्थीपना आये बिना तू भेदज्ञान करना चाहेगा तो भी कैसे होगा? चाहे कुछ भी कर लो मुमकिन नहीं होगा। बिना नींव की इमारत वास्तव में इमारत ही नहीं है। उसे इमारत कह ही नहीं सकते।

मुमुक्षु :- स्वपरप्रकाशक पर १८वाँ बोल है।

पूज्य भाईश्री :- स्वपरप्रकाशक के विषय में अलग-अलग जगह पर अलग-अलग कथन आयेंगे। अब जिसको इस विषय में विचार करना है उसे प्रथम यह नक्की करना चाहिये कि ये तीनमें से किस भेद से यहाँ पर चर्चा चली है? फिर इसकी एक मर्यादा खड़ी होगी। कथन तो आयेंगे कहीं न कहीं स्वपरप्रकाशक का कथन तो आयेगा शास्त्र में और स्वप्रकाशक के कथन भी शास्त्र में आयेंगे। दोनों कथन आयेंगे। अब ये तीन भेदमें से कहाँ से बात चली है? यह तो प्रथम समझना पड़ेगा। कहीं पर केवली की बात चली है? कहीं साधक की बात चलती है कि बाधक की बात चलती है? कौन-सी बात चलती है? बाद में ही स्पष्टता हो सकती है। वरना किसी एक बात को धारणा में ले लेना वह उचित नहीं है।

‘आत्मा का ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होने से उसके अनुभव के काल में भी...’ यानी कि ज्ञान ज्ञान का अनुभव करता है तब भी ‘वह ज्ञान स्वरूपज्ञान को भी प्रकाशित करता है और आनन्द को भी प्रकाशित करता है। इसीकारण उसे निश्चय से स्वपर प्रकाशक कहते हैं।’ अब यह आनन्द आत्मा से अभेद होने से, उसे पर में न ले और पूरे आत्मा को वह ज्ञान अनुभव करता है तो वह ज्ञान स्व-परप्रकाशक

है ऐसा कहा जाता है। उसी को स्वपरप्रकाशक कह सकते हैं और उसीको स्वप्रकाशक भी कह सकते हैं। इसमें बात कौन-सी झगड़े की है? कि बात का झगड़ा करने जैसा कुछ नहीं है। क्या कहने का आशय है इतना तो पकड़ना चाहिये न! ऐसा माने कि उसे अभेद करके स्वप्रकाशक कह दिया। (फिर कहेगा), देखो? यहाँ स्वप्रकाशक कहा है, परप्रकाशक नहीं लेना चाहिये। ऐसा नहीं है। परप्रकाशकपना होता है वहाँ परप्रकाशकपना लेना चाहिये। स्वप्रकाशकपना हो वहाँ स्वप्रकाशकपना लेना चाहिये। इसतरह जहाँ जो है वहाँ वह समझना चाहिये, या फिर यँ ही...

मुमुक्षु :- यह सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा ली न?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यहाँ साधक की बात है। क्योंकि साधक आनंद का अनुभव करता है न? इसके अनुभवनमें, स्व के अनुभवनमें आनंद का भी अनुभवन है। इसका भेद करके आनंद को पर में लिया।

मुमुक्षु :- अब एक प्रश्न ऐसा है कि ज्ञान की दशा की दिशा स्वतरफ है। जब-जब जीव अवलोकन करे तब वह किसी न किसी इन्द्रिय के संबंधयुक्त है न?

पूज्य भाईश्री :- इसलिये यहाँ नींव डाली, कि कोई जीव मोक्षार्थी हुए बिना ज्ञान की दशा की दिशा स्व की ओर है यह बात नहीं समझ सकेगा। ठीक। इतनी शर्त है। कहते हैं न? भाई! आपको यह देखना हो तो पहले टिकट दे दो फिर दिखायेंगे।

मुमुक्षु :- मोक्षार्थी है वह टिकट?

पूज्य भाईश्री :- प्रवेश तो कब मिलता है? कि इसकी टिकट खरीदो तब मिलता है। अब कहते हैं कि 'ज्ञान की दशा की दिशा स्व-ओर है।' वह कौन देखता है? वह मोक्षार्थी देख सकता है, संसारार्थी नहीं देख सकता। यह है। है या नहीं यह तो दूसरी बात है परन्तु वह उसे देख नहीं सकता। इसलिये वह उसके लिये नहीं के बराबर है। जो देख सकता है उसके लिये है। है उसे देख सकता है न? अगर 'ज्ञान की दशा की दिशा स्व तरफ है...' अब मोक्षार्थी इसे देख सकता है। ज्ञानी देख सकता है इसमें तो कोई सवाल ही नहीं है परन्तु मोक्षार्थी भी देख सकता

है। इतनी बात है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी होने के पहले?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ज्ञानी होने के पहले, पहले और पहले। है न शास्त्र में लिया है कि नहीं? 'गुरुदेवश्री' बोले हैं। भले ही मूल शास्त्र में वह दशा की दिशा की बात न हो, परन्तु इस विषय को स्पष्ट करते समय 'गुरुदेवश्री' ने यह बात की है। प्रगटरूप से यह बात की है। देख भाई! मोक्षार्थी तू हो जा और अगर तुझे भेदज्ञान में कुशलता, निपुणता, प्रविणता प्राप्त करनी हो तो राग तो पर अभिलाषस्वरूप होने से। कोई भी राग, तमाम राग परअभिलाष स्वरूप होने से उसकी दशा की दिशा पर तरफ ही है। परन्तु ज्ञानस्वरूप से ऐसा नहीं है। ज्ञान को ज्ञान के स्वरूप से देखा जाये तो, सिर्फ ज्ञान को देखा जाये तो ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञपना देखने में आये तो वह ज्ञान की दशा की दिशा पर की ओर नहीं है। ज्ञान की दशा की दिशा स्व की ओर है।

तू ऐसा कहेगा, कि हमें तो ऐसा नहीं लगता। तो इसका भी कारण है। हमें ये भी पता है कि तुझे क्यों नहीं लगता है। जिस मोक्षार्थीपने में आकर अवलोकन करना चाहिये वह अवलोकन तू नहीं करता है। तेरा अभी तक का जो जोर है, पर तरफ वेगवंत ऐसे ज्ञान का तेरा जोर है, परसम्बन्धित ज्ञान का तेरा जोर है उसे ख्याल में लेकर तू ऐसा कहता है कि ज्ञान की दशा की दिशा तो पर तरफ है। यह बात हमें तो स्वीकार नहीं होती। तो ऐसे तो नहीं बात बैठेगी। यह बात समझने और प्रतीति आने के लिये भी मोक्षार्थी होना अनिवार्य है। वरना समझ की भूमिका में भी, समझ की यथार्थता नहीं आती है। फिर अयथार्थ समझ के बल पर चाहे कितना भी वाद-विवाद कर ले इसका कोई (अर्थ नहीं है)। 'वाद विवाद करे सो अंधा।' (सद्गुरु कहे सहज का धंधा) एक तो अंधा है ही, वस्तु को देखी नहीं है और वादविवाद करने में लग जायगा। ऐसे जीव को कहते हैं कि सहज परिणति उत्पन्न हुए बिना और वह 'सहज का धंधा' हुए बिना स्वमति के साथ या अन्यमति के साथ वादविवाद तो करने जैसा ही नहीं है। अन्यमति के साथ भी करने

योग्य नहीं है और स्वमति के साथ भी करने योग्य नहीं है। यह तो 'नियमसार' में लिया है।

इसमें सारे प्रश्नों का स्पष्टीकरण हो गया। एक मोक्षार्थी की बात आते ही। क्यों नहीं दिखता है? क्यों दिखता नहीं है? यह प्रश्न उठता है न? परन्तु प्रथम ऐसा मोक्षार्थीपना तो प्रगट कर। फिर दिखने की बात है। इसके पहले तुझे देखना होगा तो भी वह प्रयत्न अनुचित है। सीधा दिखेगा नहीं। चश्मा रंगीन पहने और रंग बिना का देखना है, नहीं दिखेगा। इसके लिये तो तुझे निर्मल स्वच्छ पारदर्शक आईना रखना होगा। इसके सिवा तो कोई उपाय नहीं है।

मोक्षार्थी की भूमिका में निर्मलता आती है। वहाँ उलटेमें से सुलटा होने का बनता है। इसके पहले बदलाव आना कैसे भी सम्भव नहीं है। किसी भी क्रिया से तो संभव नहीं है परन्तु शास्त्र ज्ञान से भी संभवित नहीं है। इतनी बात है।

यहाँ जो प्रज्ञाछैनी की बात है वह तो इसप्रकार है कि, 'ऐसे दो दशाओं के मध्य प्रज्ञाछैनी लगाने से...' यह प्रज्ञाछैनी का शब्दप्रयोग आचार्य महाराज ने (समयसारजी के) 'मोक्षअधिकार' में किया है। मोक्ष अधिकार में भी भेदज्ञान का विषय वहाँ चला है और

कहा है। वहाँ मोक्ष का विषय नहीं चला है। मोक्ष का कारण जो भेदज्ञान है वह विषय वहाँ चला है। वहाँ प्रज्ञाछैनी का शब्द प्रयोग है।

प्रज्ञाछैनी। छैनी है वह एक ही प्रहार में दो टुकड़े करती है जबकि करवत वह बारम्बार चलाने पर टुकड़ा करती है ऐसा है। यहाँ छैनी की बात ली है। छैनी मतलब जिस ज्ञान की दशा अंतर्मुख होती है उसे यहाँ प्रज्ञाछैनी (कहा)। प्रज्ञा नाम ज्ञान। जो ज्ञान की पर्याय अंतर्मुख होती है। वह अंतर्मुख होनेवाली ज्ञान की पर्याय एकदम से राग से भिन्न होती है इसलिये उसे प्रज्ञाछैनी कहते हैं।

ज्ञान और राग के बीच प्रज्ञाछैनी का प्रहार करना, ऐसी बात है। परन्तु यहाँ पर तो जो ज्ञान अंतर्मुख होता है वह ज्ञान ही प्रज्ञाछैनी स्वरूप है। ज्ञान को ही प्रज्ञाछैनी बताया। प्रज्ञा-प्रज्ञारूप छैनी। छैनी को ही ज्ञान की उपमा दी है। ज्ञान जो राग के साथ परसन्मुख होकर जुड़ता था वही ज्ञान स्वसन्मुख हुआ। इसीको ज्ञान और राग के बीच प्रज्ञाछैनी का प्रहार किया ऐसा कहते हैं। अंतरंग भेदज्ञान का यह सूक्ष्म विषय है। यहाँ तक रखते हैं।

करुणासागर पूज्य भाईश्री 'शशीभाई' की ८०वीं जन्म-जयंती प्रसंग पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री शशीभाई का आगामी ८०वाँ जन्म जयंती महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-४, दि. १६-१२-१२ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि. २०-१२-१२ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ऑडियो एवं विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि. १९-१२-२०१२ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा।

इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु ट्रस्ट के कार्यालय में यहाँ पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं. १९४२-बी, शशीप्रभु चोक, रूपाणी सर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

संपर्क : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाड़ी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४००१.

**पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से
कुछएक वचनामृत**

मुमुक्षुजीवको स्वयंका योग्यपना होवे उसकी विचारणा करनी चाहिये, जिसका मुख्य साधन आत्मलक्ष्यपूर्वक सत्संग है । (१)



समाधिमरण समाधिजीवनके कारण होता है । जिसका समाधिमरण होता है उसको भवांतरमें समाधिजीवन प्राप्त होता है - यह निःशंक है । (२)



आत्मरस/ज्ञानरसके अभावमें पुण्यका रस अथवा क्षयोपशमका रस तीव्र हुए बिना नहीं रहता; वैसे परिणाम पापानुबंधी परिणाम हैं । अतः ज्ञानी पुण्योदय / प्रशस्तभावों, (अनुकूलता)- क्षयोपशमादिके प्रति उदास है और प्रतिकूलतामें पुरुषार्थको सहज बढ़ाते हैं / बढ़ता है । (३)



देहात्मबुद्धि तीव्र होने पर चिंताके कारण जीव ज्योतिषादिके प्रति झुकता है, जो कि आत्मभावनासे विरुद्ध है । आत्मार्थको देहादि संयोगकी ऐसी चिंता नहीं होती कि जिसके कारण आत्मभावनाका नाश हो । (४)



आत्माके लिये अहितरूप भावोंके होने पर घबराहट होना वह पात्रताका लक्षण है । (५)



जगतकी रचना जीवको (तत्त्वदृष्टिके अभावमें) उलझन, आकुलता व असमाधान हो अथवा असत्यका आग्रह हो ऐसी है । (६)



अनंतकालसे स्वरूपका (स्वभावका) परिचय नहीं होनेसे विभाव सहज हो चुका है। अतः सुदीर्घकाल पर्यंत सत्संगमें रहकर 'बोध भूमिकाका' सेवन होने पर 'विभावकी साधारणता' छूटे और तब स्वरूपकी सावधानी प्राप्त होती है । (श्रीमद् राजचंद्रजी) (७)



किसी भी उदयप्रसंगमें तीव्र रसपूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो अथवा अधिक चिंतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो, ऐसा करना या होना वह ज्ञानीपुरुषके मार्गमें प्रवेश करनेका द्वार है । ऐसा तभी हो सकता है कि जब सर्व उदयप्रसंग 'आत्मासे सब हीन / भिन्न ही' ऐसे निश्चित हुए हो और उसकी कीमत अभिप्रायमें से चली गई हो - वरना उदयभावका रस उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता; जो कि आत्मरसके लिये प्रतिबंधक है। विभावरस स्वभावरसको उत्पन्न होने नहीं देता । (८)



शास्त्रकी धारणारूप ज्ञानसे हित सधता नहीं (किन्तु) अनुभवज्ञानसे हित सधता है । (९)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणामन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत



‘मैं स्वयं ही वर्तमान में भगवान हूँ’ - (इसमें) भगवान होना भी क्या है?... अपने स्वभाव में दृष्टि का प्रसार होते, पर्याय मेरी ओर झुकते-झुकते, पर्याय में केवलज्ञान - सिद्धदशादि होती ही है; परंतु मुझे तो इससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं है। २३.



विभाव तो मेरे से बहुत दूर है। यहाँ तो परिणाम (शुद्धपर्याय) भी मेरेसे भिन्न है। ‘मैं तो अपरिणामी हूँ’ - एक समय के परिणाम के साथ नहीं बहता। २६.



‘मैं’ (त्रिकाली) परिणाम में नहीं जाता। (त्रिकाली स्वभाव में अपनापन होनेसे) परिणाम सहज ही मेरी ओर आता है। २९.



‘मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना-धरना ही नहीं है’ - ऐसी दृष्टि होनेपर, परिणाम में आनंद का अंश प्रकट होता है; और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता हो जाती है। ३०.



दृष्टि को विषयभूत द्रव्य एकांत कूटस्थ ही है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकांत अनित्य ही है। (- यह सम्यक् एकांत है।) ३२.



‘मैं’ तो कभी भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर ‘मैं’ तो खूँटे की तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.



‘मैं’ तो अडिग हूँ; किसीसे डिगनेवाला नहीं हूँ। जैसे इस देहाकार में स्थित आकाश अडिग है, हिलता-चलता नहीं; वैसे ही ‘मैं’ भी अडिग हूँ। ५०.



चैतन्य-गठरी ‘मैं’ ही हूँ - ऐसी पकड़ हो जानेसे मति-श्रुतज्ञान अंतर में ढल जाता है; इसलिए अंतर में ढलने के लिए (उपदेश में) कहने में आता है। ५३.



‘मैं’ वर्तमान में ही समझण का पिण्ड हूँ। ५४.



प्रश्न :- शास्त्र में तो प्रयत्न करना....प्रयत्न करना, ऐसी बात आती है ?
उत्तर :- प्रयत्न करने के लिए कहने में आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। ‘मैं तो पर्याय मात्र से भिन्न हूँ’, प्रयत्न क्या करें ? - सहजरूप होता है। प्रयत्न आदि का ‘होना’ पर्याय का स्वभाव है। ‘मैं’ उसमें न आता हूँ, न जाता हूँ; ‘मैं त्रिकाली हूँ’ - ऐसी दृष्टि में प्रयत्न सहज होता है। ७१.

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- साधक और जिज्ञासु जीव-दोनोंके लिये एक ही मार्ग है?

समाधान :- हाँ, दोनोंके लिये एक ही मार्ग है। जिज्ञासुको भी ध्येय एक ही रखना है। आत्मार्थिका ध्येय तो एक ही होना चाहिये कि सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? सम्यग्दृष्टिको आत्माका आश्रय होता है वह मुझे कैसे प्रगट हो? —ऐसी भावना-जिज्ञासा करना। सबको चलना तो एक ही मार्गपर है। जिज्ञासुको भी वही करना है कि भवका अभाव कैसे हो, सम्यग्दर्शन कैसे हो? वह जबतक न हो तबतक अशुभभावसे बचनेके लिये शुभभावमें देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा लाये, शास्त्राभ्यास करे, परन्तु ध्येय एक ही रखे कि सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? आत्माका आश्रय कैसे प्रगट हो? भवका अभाव किस प्रकार हो?—ध्येय एक ही होना चाहिये। शुभभावसे पुण्य बँधता है, परन्तु ऐसा पुण्यका हेतु उसे नहीं होता। भवका अभाव कैसे हो? आत्माका आश्रय कैसे प्रगटे? शुद्धात्मा कैसे प्रगट हो? —ऐसा ही जिज्ञासुका हेतु होना चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०६)



प्रश्न :- राग और ज्ञान भिन्न हैं—इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा? या द्रव्य और पर्यायका भेदज्ञान भी करना पड़ेगा?

समाधान :- राग और ज्ञान भिन्न हैं; क्योंकि, ज्ञायकभाव अपना स्वभाव है और राग अपना स्वभाव नहीं है, विभाव है; विभाव है; जब कि पर्याय है वह किसी अपेक्षासे अपनी है। वह पर्याय कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, उसका स्वरूप जैसा है वैसा जानना चाहिये। द्रव्य-गुण-पर्यायको जानना अवश्य, परन्तु पर्यायकी कोटिको पर्यायरूपसे जानना और विभावसे जिस प्रकार भिन्नता है उस प्रकारसे भिन्नता जानना। विभावको सर्वथा भिन्न जानना कि वह मेरा स्वभाव नहीं है, तथा पर्यायका जैसा कथंचित् भिन्न और अभिन्न स्वरूप है वैसा जानना। अपने प्रयत्नमें जैसा विभाव और स्वभावका भाग करता है वैसा भाग सर्वथा पर्यायके साथ नहीं करता। अपने ज्ञानमें वह पर्यायको जानता है; द्रव्यको मुख्य करता है और पर्यायको गौण करता है; परन्तु पर्याय सर्वथा भिन्न है ऐसा भेदज्ञान उसमें नहीं आता। वह पर्यायको गौण करता है और द्रव्यको मुख्य करता है; जैसा विभाव एवं स्वभावके बीच भेद पड़ता है वैसा भेद पर्याय एवं स्वभावके बीच नहीं पड़ता, क्योंकि पर्याय कथंचित् अभिन्न है। जो जैसा हो वैसा जानना पड़ता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०७)



क्षमापना

श्रीमद् भगवंत वीतराग सर्वज्ञदेव, परमशांतरस निमग्न निर्ग्रथ गुरुराज, वीतरागतापोषक जिनवाणीमाता एव जिनशासन परंपरा में हुए सर्व सत्पुरुषों के प्रति मन-वचन-काया के योग से जो कुछ भी अविनय अपराध या अशातना हुई हो उसकी शुद्ध अंत-करणपूर्वक क्षमा याचना करते हैं। स्वानुभूतिप्रकाश के पाठकवर्ग के प्रति जो कुछ भी अविनय या अशातना हुई हो उसकी क्षमा याचना करते हैं।

किये बिना उपदेशक हो जाना, यह महान पुरुषों द्वारा सेवन किये गये क्रमका भंग होनेके बराबर है अर्थात् उनकी आज्ञा और प्रवर्तनाके साथ विसंगतता उत्पन्न होना - यह अविवेक है ऐसा स्वयंको लगा है।

‘इसलिये अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें कहनेकी इच्छा नहीं होती। ... सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है। अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है। वह ऐसी कि अपूर्व कालमें ज्ञान प्रगट करते हुए बाध न आये।’

स्वयंको आत्मज्ञान होने पर भी पूर्वकर्मके उदयको अनिवार्य देखकर वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके बीच खुदको होकर रहना उचित माना है। जगतके जीवोंका परिचय अति संक्षेप कर दिया है और जो-जो जीवके साथ पूर्वकर्मके कारणसे प्रवृत्ति होती है वहाँ भी अज्ञानी होकर अर्थात् अज्ञानी जीव प्रवृत्ति करे उस प्रकारसे व्यवहार-कार्योंमें प्रवर्तन करनेका दृढ़ निश्चय किया है। जिससे कि महापुरुषका अवर्णवाद करनेका किसीको कारण न बने, तथा भविष्यकालमें मार्ग प्रकाशित करनेमें बाधा भी नहीं हो। इस वचनमृतमें कृपालुदेवकी लोकोत्तर विचक्षणताके दर्शन होते हैं। यदि इस परिस्थितिमें ऐसी विचक्षणतासे प्रवर्तन नहीं होवे तो स्व-पर अहितकारी परिणाम आनेका संभव है, अतः इस विषयमें उन्होंने जो प्रवर्तन किया, यह उनका महा विवेक है।

‘तन्मय आध्योगमें प्रवेश है। वहीं उल्लास है, वहीं याचना है, और योग (मन, वचन और काया) बाहर पूर्वकर्म भोगता है। वेदोदयका नाश होने तक गृहवासमें रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान-बूझकर वेदोदय रखता है, क्योंकि पंचम कालमें परमार्थकी वर्षाऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा लगती है।’

स्वयंकी आभ्यंतरदशाका यहाँ पर उल्लेख किया है कि आत्मामें तन्मय योगसे प्रवृत्ति हो रही है और उस वजहसे मन, वचन, कायाके पुद्गलोंसे आत्मा तद्न भिन्न पड़ गया है, वह यहाँ तक कि अज्ञानभावसे बंधन किये गये पूर्वकर्मका भोगना आत्मभावसे बिलकुल नहीं होता, परन्तु उदयको भोगनेके कालमें स्पष्टरूपसे और प्रत्यक्षरूपसे ज्ञातादृष्टाभावसे रहकर उदयसे भिन्नभावमें रहके हैं। अंतर परिणति अत्यंत बलवान होने पर भी चारित्रमोहके उदय - जनित वेदोदय चालू रहे तब तक गृहस्थादशामें रहना उचित लगता है। कुदरतको यह बात मंजूर होगी ऐसा लगता है; क्योंकि स्वयं, उदयकालमें आत्मभावमें रहते हुए चारित्रमोहके मूलका छेद कर सके, ऐसे पुरुषार्थके लिए समर्थ हैं। यद्यपि स्वयंके गृहवासके कारण बाहरमें परमार्थ उपदेशकी वर्षा होनेकी संभावना नहीं है, जो कि पंचमकालमें अनुरूप है, फिर भी स्वयंके मार्गविकासमें उसका प्रतिबंध नहीं है। सिर्फ दूसरे जीवोंको धर्मलाभ होनेमें अवकाश का रहता है, लेकिन पंचमकालमें ऐसा बनना अस्वाभाविक नहीं है। लाक्षणिक शैलीसे यह बात लिखी गई है।

‘सूत्र लेकर उपदेश करनेकी आगे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके पहलू सब कुछ ज्ञात हो गये हैं।’

स्वरूपके अभेदज्ञानमें सर्व शास्त्रज्ञान समाविष्ट है, सर्व भेद उसमें गर्भित हैं। अतः स्वयंके ज्ञान-सामर्थ्यको लक्षमें लेकर कहते हैं कि, भविष्यमें सूत्र या शास्त्र सामने रखकर उपदेश करनेकी जरूरत नहीं रहेगी, क्योंकि ज्ञानदशाके प्रारम्भमें ही सूत्र और उसके सर्व पहलू स्वयंके ज्ञानमें मालूम पड़ चुके हैं। ऐसा सातिशय ज्ञान उन्हें वर्तता है, इसका उल्लेख उक्त वचनमृतमें देखने मिलता है।

बंबई, कार्तिक सुदी ५, सोम, १९४७

‘आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो निःसंशय है; ग्रन्थिभेद हुआ यह तीनों कालमें सत्य बात है। सब ज्ञानियोंने भी इस बात का स्वीकार किया है। अब हमें अन्तिम निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना बाकी है, जो सुलभ है। और उसे प्राप्त करनेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृतसागरका अवलोकन करते हुए अल्प भी मायाका आवरण बाध न करे, अवलोकन सुखका अल्प भी विस्मरण न हो, ‘तू ही, तू ही’ के सिवाय दूसरी रटन न रहे; मायिक भयका, मोहका, संकल्पका या विकल्पका एख भी अंश न रहे।’

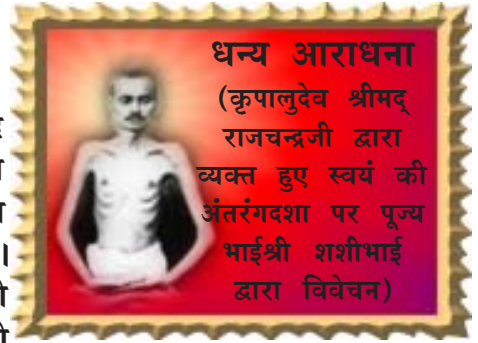
इस पत्रमें स्वयंको आत्मज्ञान हुआ है इसका उल्लेख तथा ग्रंथिभेद यानी कि मिथ्यात्वकी ग्रंथिका छेद हो गया है उसका उल्लेख निःसंशयरूपसे किया है। निर्मल सम्यक्ज्ञानके प्रकाशमें निःशंकरूपसे स्वयंका श्रद्धा-ज्ञान अनुभवगोचर हो रहा है। साथ ही साथ खुदकी उक्त दशाके सर्वज्ञानी साक्षी हैं ऐसा स्वयंको अंतरसे भासित होता है अथवा पूर्वमें हुए सर्व ज्ञानियोंकी दशा और वचन खुदकी सम्यक्दशाके साक्षीभूत हैं ऐसा भासित होता है।

अभ आखरी पूर्णदशाकी भावना रही है, वह भी इसलिए कि किसी भी प्रकारसे अम-तसागररूप परमात्माका अनुभवन करनेमें अल्प आवरण भी बाधा न करे अथवा उसमें सूक्ष्म अंतराय भी नहीं हो। निरंतर परिणतिमें एक आत्मस्वरूपका ही भजन रहे और किसी भी अंश में मोह, संकल्प, भय या माया उत्पन्न नहीं हो।

‘ऐसी दशा हुए बिना प्रगट मार्ग प्रकाशित करनेकी परमात्माकी आज्ञा नहीं है ऐसा मुझे लगता है। इसलिये दृढ़ निश्चय किया है कि इस दशाको प्राप्त करके फिर प्रगट मार्ग कहना-परमार्थ कहना - तब तक नहीं। ... निर्विकल्पता तो है ही; परन्तु निवृत्ति नहीं है, निवृत्ति हो तो दूसरोंके परमार्थके लिये क्या करना इसका विचार किया जा सकता है। उसके बाद त्याग चाहिये, और उसके बाद त्याग कराना चाहिये।’

‘महापुरुषोंने कैसी दशा प्राप्त करके मार्ग प्रगट किया है, क्या-क्या करके मार्ग प्रगट किया है, इस बातका आत्माको भलीभाँति स्मरण रहता है;’

जिन महान पुरुषोंने श्री जिनेश्वरदेवका मार्ग प्रकाशित किया है, उनकी दशा और कार्यपद्धतिका कृपालुदेवको भलीभाँति खयाल है कि उपरोक्त दशा हुए बिना समाजके बीच प्रगटरूपसे मार्ग प्रकाशित करनेकी श्री जिनेश्वरदेवकी आज्ञा नहीं है। तद्नुसार स्वयंने भी ऐसा दृढ़ निश्चय किया है। जिसमें निर्विकल्पताकी प्राप्ति तो हुई है और उसमें निर्विकल्प स्वरूप अनुभवज्ञानपूर्वक मालूम पड़ा है, अतः इस स्वरूपको और इस स्वरूप प्राप्तिके मार्गको स्वयं प्रगट कर सकते हैं, फिर भी स्वयंको बाह्य निवृत्ति नहीं है, यदि निवृत्ति होती तो शासनके कार्य और दूसरोंका कल्याण कैसे हो तत्सम्बन्धित क्या करना? यह सोचा जा सके; इसके अलावा निर्ग्रन्थका मार्ग प्रकाशित करनेके लिए और प्रभावनाके लिए प्रकाशक पुरुषको भी त्याग होना आवश्यक है अर्थात् स्वरूप स्थिरता वश सहजरूपसे बाह्य त्यागकी दशा रहनी चाहिए, कि जिससे वीतरागताके सद्भावमें सांसारिक जीवनके विकल्प ही उत्पन्न न हो, ऐसी सहज दशाकी प्राप्ति होनेके पश्चात् त्यागका उपदेश करना चाहिए। इस क्रमका सेवन



धन्य आराधना

(कृपालुदेव श्रीमद्
राजचन्द्रजी द्वारा
व्यक्त हुए स्वयं की
अंतरंगदशा पर पूज्य
भाईश्री शशीभाई
द्वारा विवेचन)